ट्रैक्ट न० १०६

॥ वन्दे जिनवरम् ॥

# समाज संगठन

लेखक—

श्रीयुत पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार।

प्रकाशक—

जैनमित्र मंडल

धर्मपुरा देहली।

प्रथम वृति २००० } चैत्रवीर सं० २४६३ अप्रैल १९३७ { मूल्य )॥

वीर सेवा मन्दिर
दिल्ली



क्रम संख्या

काल नं०

खण्ड

# समाज-संगठन



समाज का सुव्यवस्थित, बलाढ्य और वृद्धिगंत होना समाज-संगठन कहलाता है। प्राचीन आचार्यों ने विवाह का विधान करके उसके द्वारा संतानोत्पादन करने को जो गृहस्थका एक खास धर्म बतलाया है* उसका मुख्य उद्देश्य समाज-संगठन है, जिस के द्वारा धर्म-कर्मादि की संतति अविच्छिन्न रहने से अपना विकास सिद्ध किया जा सकता है। क्योंकि समाज व्यक्तियोंका बनता है—व्यक्तियोंके समुदायका नाम ही समाज है—और व्यक्तियों का समुदाय तभी बढ़ता है और तभी उसके द्वारा समाजकी पुष्टि होकर धर्म-कर्मादि की संतति अविच्छिन्न रह सकती है जब कि विवाह-द्वारा योग्य संतान उत्पन्न की जाय इसलिये विवाह द्वारा और बल लाना—यह समाज-संगठनका मुख्य अंग है।

*जैसाकि आदि पुराण के १५ वें पर्व में वर्णित विवाहकी निम्न प्रार्थना से प्रकट है जो युगकी आदि में नाभि राजाने भगवान् 'ऋषभदेव' से की थी:—

त्वामादि पूरुषं दृष्ट्वा लोकोऽप्येवं प्रवर्त्ततास् ।
महतां मार्गवर्तिन्यः प्रजाः सुप्रजसोह्यमूः ॥६१॥
ततः कलत्रमत्रेष्टं परिणेतुं मनः कुरु ।
प्रजासंततिरेवं हि नोच्छेत्स्यति विदांवर ॥६२॥
प्रजासन्तत्यविच्छेदे तनुते धर्मसन्ततिः ।
मनुष्य मानवं धर्मं ततो देवोनमुच्युते ॥६३॥
देवेमं गृहिणां धर्मं विद्धि, दारपरिग्रहम् ।
सन्तान रक्षणे यत्नः कार्यो हि गृहमेधिनाम् ॥६४॥

## संगठन की ज़रूरत का बाह्यदृष्टि से विचार

अब देखना यह है कि विवाहद्वारा संतान उत्पन्न करके समाज संगठनकी ज़रूरत क्यों पैदा होती है ? ज़रूरत इसलिए होती है कि यह जीवन एक प्रकारका 'युद्ध' है—लौकिक और पारलौकिक या अन्तरंग और बहिरंग दोनों ही दृष्टियोंसे इसे युद्ध समझना चाहिये—और यह संसार 'युद्धक्षेत्र' है। युद्धमें जिस प्रकार अनेक शक्तियोंका मुक़ाबिला करनेके लिये सैन्य-संगठनकी ज़रूरत होती है उसी प्रकार जीवन-युद्धमें अनेक आपदाओं से पार पानेके लिए समाज संगठनकी आवश्यकता है। हम चारों ओरसे इस संसारमें अपनी आपत्तियों-द्वारा घिरे हुए हैं कि यदि हमारे पास उनसे बचने का कोई साधन नहीं है तो हम एक दिन क्या, घड़ी भर भी जीवित नहीं रह सकते। बाह्य जगत पर दृष्टि डालनेसे मालूम होता है कि एक शक्ति बड़ी सरगर्मीके साथ दूसरी शक्तिपर अपना स्वत्व (स्वामित्व) और प्राबल्य स्थापित करना चाहती है, अपने स्वार्थके सामने दूसरी को बिलकुल तुच्छ और नाचीज़ समझती है, चैतन्य होते हुए भी उससे जड़-जैसा व्यवहार करती है और यदि अवसर मिले तो उसे कुचल डालती है-हड़प कर जाती है। रात दिन प्रायःइस प्रकारकी घटनाएँ देखनेमें आती हैं। निर्बलों पर खूब अत्याचार होते हैं। न्यायालय खुले हुए हैं, परन्तु वे सब उनके लिये व्यर्थ हैं। उनकी कोई सुनाई नही होती। इसलिए कि, उनका कोई रक्षक या सहायक नहीं है, उनमें कौटुम्बिक बल नहीं है, जिस समाजके वे अंग हैं वह सुव्यवस्थित नहीं हैं, पैसा उनके पास नहीं है' उन्हें कोई साक्षी उपलब्ध नहीं होता कोई गवाह मयस्सर नहीं आता। जो लोग प्रत्यक्ष उन पर होते हुए अत्याचारोंको देखते हैं वे भी अत्याचारीके भयसे या अपने स्वार्थमें कुछ बाधा पडनेके भयसे बेचारे

गरीबोंकी कोई मदद नहीं करते, उन्हें 'न्याय-भिक्षा' दिलानेमें समर्थ नहीं होते। और इस तरह बेचारे पारिवारिक और सामाजिक शक्ति, विहीनोंको रातदिन चुपचाप घोर संकट और दुःख सहन करने पड़ते हैं। संसारमें अविवेक और स्वार्थकी मात्रा इतनी बढ़ी हुई है कि उसके आगे पापका भय कोई चीज नहीं है। पापके भयसे बहुत ही कम अपराधोंकी रोक होती है। ऐसे बहुत ही कम लोग निकलेंगे जो पापके भयसे अपराध न करते हों। जो हैं उन्हे सच्चे धर्मात्मा समझना चाहिए। बाकी अधिकांश लोग ऐसे ही मिलेंगे जो लोक-भयसे, राज्यभयसे या परशक्तिके भयसे पापाचरण करते हुए डरते हैं। अन्यथा, उन्हें पापसे कोई घृणा नहीं है, वे सब जब मौका मिलता है तब ही उसे कर बैठते हैं। ऐसी हालतमें समूह बनाकर रहने की बहुत ही जरूरत है। समूहमें बहुत बड़ी शक्ति होती है। छोटे छोटे तिनकों और कच्चे सूतके धागोंका कुछ भी बल नहीं है, उन्हें हर कोई तोड़मरोड़ सकता है। परन्तु जब वे मिलकर एक मोटे रस्सेका रूप धारण कर लेते हैं तब बड़े बड़े मस्त हाथी भी उनसे बांधे जा सकते हैं। चींटियां आकारमें कितनी छोटी छोटी होती हैं परन्तु वे अपनी समूह शक्तिसे एक सांपको मार लेती है। जिनकी समूह शक्ति बढ़ी हुई होती है उनपर एकाएक कोई आक्रमण नहीं कर सकता, हरएकको उनपर अत्याचार करने या उनके स्वार्थमें बाधा डालनेका साहस नहीं होता, उनके स्वत्वों और अधिकारों की बहुत कुछ रक्षा होती है। विपरीत इसके, जिनमें समूहशक्ति नहीं होती वे निर्बल कहलाते हैं और निर्बलों पर प्रायः राजा और प्रजा सभीके अत्याचार हुआ करते हैं। छोटी-छोटी मछलियां संख्यामें अधिक होने पर भी अपनेमें समूहशक्ति नहीं रखतीं, इस लिये बड़ी बड़ी मछलियां या मच्छ उन्हें खा जाते हैं। मधुमक्खियां (शहदकी मक्खियां) अपनेमें कुछ समूहशक्ति रखती हैं, इससे हर

एकको उनके छत्तेके पास तक जानेका साहस नहीं होता। साधारण मक्खियोंमें वह शक्ति नहीं है, इसलिये उन्हें हर कोई मार गिराता है। इससे केवल व्यक्तियोंकी संख्या के अधिक होनेका नाम 'समूह' या 'समूह-शक्ति' नहीं है। बल्कि उनका मिलकर 'एक प्राण' और 'एक उद्देश्य' हो जाना ही समूह या समूह-शक्ति कहलाता है। एक कुटुम्बके किसी व्यक्ति पर जब कोई अत्याचार करता है तो उस कुटुम्बीके सभी लोगोंको एक दम जोश आजाता है और वे उस अत्याचारीको उसके अत्याचारका मज़ा (फल) चखानेके लिये तैयार हो जाते हैं, इसीको 'एकप्राण होना' कहते हैं। इसी तरह पर, जब कुटुम्बको कोई मनुष्य कुटुम्बके उद्देश्यके विरुद्ध प्रवर्त्तता है, अन्यायमार्ग पर चलता है तो उससे भी कुटुम्ब के लोगों के हृदय पर चोट लगती है और वे शरीरके किसी अंगमें उत्पन्न हुए विकारके समान, उसका, प्रतिशोध करनेके लिये तैयार हो जाते हैं; इसको भी 'एक प्राण होना' कहते हैं। साथ ही, यह सब उनके एक उद्देश्य' होनेको भी सूचित करता है। इस प्रकार एक प्राण और एक उद्देश्य होकर जितनी भी अधिक व्यक्तियां मिलकर एक साथ काम करती हैं उतनी ही अधिक विघ्नवाधाओंसे सुरक्षित रहकर वे शीघ्र सफल मनोरथ होती हैं। यही समाज-संगठन का मुख्य उद्देश्य है और इसी ख़ास उद्देश्यको लेकर विवाहकी सृष्टिकी गई है। इसमें पूरा 'रक्षातत्व' भरा हुआ है

एक विवाह होने पर दोनों पक्षकी कितनी शक्तियां परस्पर मिलती हैं, एक दूसरेके सुख दुःखमें कितनी सहानुभूति बढ़ती है और कितनी समवेदना प्रगट होती है इसका अनुभव वे सब लोग भले प्रकार कर सकते हैं जो एक सुव्यवस्थित कुटुम्बमें रहते हों। युद्धमें दो राज-शक्तियोंके परस्पर मिलनेसे—एक सूत्रमें बँधनेसे—जिस प्रकार आनन्द मनाया जाता है उसी प्रकार विवाहमें वर और वधू

दोनों पक्षकी शक्तियोंके मिलापसे आनन्दका पार नहीं रहता। इस सम्मिलित शक्तिसे जीवन-युद्ध अनेक अंशोंमें सुगम हो जाता है। विवाहके द्वारा कुटुम्बोंकी रचना होती है और कुटुम्बों से 'समाज' बनता है। कुटुम्बोंके संगठित, बलाढ्य और सुव्यस्थित होने पर समाज सहज ही में संगठित, बलाढ्य और सुव्यवस्थितहो जाता है और समाजके संगठित, बलाढ्य और सुव्यवस्थित होने पर उन सब लौकिक तथा धार्मिक स्वत्वोंको--अधिकारोंकी—पूर्णतया रक्षा होती है जिनकी रक्षा प्रत्येक व्यक्ति या कुटुम्ब अलग अलग नहीं कर सकता। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि सब कुटुम्ब समाज-शरीरके अंग हैं। एक भी अंगकी व्यवस्था बिगड़ जानेपर जिस प्रकार शरीरके काममें बाधा पड़ जाती है उसी प्रकार किसी भी कुटुम्बकी व्यवस्था बिगड़ जाने पर समाजके काममें हानि पहुँचती है। और जिस प्रकार सब अंगोंके ठीक होने पर शरीर स्वस्थ और निरोग होकर भले प्रकार सब कार्य्यों का सम्पादन करनेमें समर्थ हो सकता है, उसी प्रकार समाज भी सब कुटुम्बों की व्यवस्था ठीक होने पर यथेष्ट रीतिसे धर्म-कर्म आदिकी व्यवस्था कर सकता है और प्रत्येक कुटुम्ब तथा व्यक्ति के स्वत्वोंके रक्षा और उसकी आवश्यकताओंकी पूर्तिका समुचित प्रबन्ध कर सकता है। इससे कहना होगा कि 'समाजका सङ्गठन कुटुम्बोंके सङ्गठन पर अ-बलम्बित है' और कुटुम्बके सङ्गठनका भार कुटुम्बके प्रधान व्यक्ति-यों पर गृहणी और गृहपतियों पर होता है। इसलिये समाज संग-ठनका सारा भार प्राय उन स्त्री पुरुषों पर है जो विवाहित हैं या विवाहके लिए प्रस्तुत हैं। उन्हें अपनी जिम्मेदारियोंको खूब समझ लेना चाहिये। उनके द्वारा कोई भी ऐसा काम न होना चाहिये। जिससे समाज सङ्गठनमें बाधा पड़ती हो। साथ ही, उन्हें यह भी जान लेना चाहिये कि जब तक परिस्थिति नहीं सुधरेगी—वाता

वरण ठीक नहीं होगा—तब तक हम अपनी स्थितिको भी जैसा चाहिये वैसा नहीं सुधार सकते। इसलिये समाज सङ्गठनके अभिप्रायसे—वायुमंडल को सुधारनेकी दृष्टिसे—उन्हें अपने कुटुम्बके सुव्यवस्थित करनेमें कोई भी बात उठा न रखनी चाहिए। इस प्रकारके प्रयत्नसे सब कुटुम्बोंके सुव्यवस्थित हो जानेपर जो स्वच्छ वायु-धारा बहेगी वह सभीके लिए स्वास्थ्यप्रद होगी और उनमें रह कर सभी लोग अपना कल्याण कर सकेंगे।

प्रत्येक कुटुम्बको 'सुव्यवस्थित और बलाढ्य' बनानेके लिए उसके प्रधान पुरुषोंको इन बातोंपर ध्यान रखनेकी खास जरूरत है

(१) स्वयं सदाचारसे रहना और अपने कुटुम्बियों तथा आश्रितोंको सदाचारके मार्ग पर लगाना। ऐसा कोई काम न करना जिसका समाज पर बुरा असर पड़े।

(२) अपने बुद्धि-बल, शरीर-बल और धन-बलको बराबर बढ़ाते रहना और सदा प्रसन्नचित रखनेकी चेष्टा करना।

(३) सबके दुख-सुखका पूरा खयाल रखना, सबको परस्पर प्रेम तथा विश्वास करना सिखलाना और दुखियोंके दुख दूर करने का प्रयत्न करना। साथ ही, किसीपर अत्याचार न करना और दूसरों के द्वारा होते हुये अत्याचारोंको यथाशक्ति रोकना।

(४) वीर्यका दुरुपयोग न करके प्रायः संतानके लिए ही मैथुन करना। किसी व्यसनमें न फंसना और जितेन्द्रिय रहना।

(५) स्वयं कुसङ्गतिसे बचना और अपने परिवारके लोगोंको बचाते रहना। साथ ही अपनी संतानका कभी बाल्यावस्थामें विवाह न करना।

(६) संतानकी तथा अन्य कुटुम्बियोंकी शिक्षाका समुचित प्रबन्ध करना, उन्हें धर्मके मार्गपर लगाना और ऐसी शिक्षा देना

जिससे वे परावलम्बी न बनकर प्रायः स्वावलम्बी बनें और देश धर्म तथा समाजके लिये उपयोगी सिद्ध हों।

(७) कुटुम्ब भरमें एकता, सत्यता, समुदारता, दयालुता, गुण-ग्राहकता, आत्मनिर्भरता और सहन शीलता आदि गुणोंका प्रचार करना। साथही, ईर्षा, द्वेष और अदेखसका-भाव आदि अवगुणों को हटाना।

(८) रूढ़ियोंका दास न बनकर कुरीतियोंको दूर करना और जो कुछ युक्ति तथा प्रमाणसे समुचित और हित रूप जँचे उसीके अनुसार चलना।

(९) धर्म प्रचार और समाजके उत्थानकी बराबर चिंता रखना और धार्मिक कार्यों में सदैव योग तथा सहायता देते रहना।

(१०)मितव्ययी (किफायतशार) बनना परन्तु कृपण नही होना। साथ ही पूज्यकी पूजाका कभी व्यतिक्रम न करते हुये बराबर अतिथि सत्कार में उद्यमी रहना और उसे यथाशक्ति करना

प्रत्येक स्त्री-पुरुषको इन दस बातोंको अपना कर्त्तव्य कर्म बना लेना चाहिये अपने समस्त आचार व्यवहारका सूत्र समझना चाहिये और विवाहके गठजोड़के समय इनकी भी गांठ बांध लेनी चाहिये

## अंतरङ्ग-दृष्टिसे विचार

यह तो हुआ बाह्य जगतकी दृष्टिसे विचार। अब अंतरग जगत पर दृष्टि डालिये। अंतरंग जगत पर दृष्टिडालनेसे मालूम होता है कि यह जीवात्मा अनादिकालसे मिथ्यात्व, राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध, मान, मद, माया, लोभ, हास्य, शोक, भय, जुगुप्सा अज्ञान, अदर्शन, अन्त राय, और वेदनीय आदिक सैकड़ों और हजारों कर्मशत्रुओंसे घिरा हुआ है, जिन सबने इसे बन्धनमें

डालकर पराधीन बना रक्खा है और इसकी अनन्त शक्तियोंका घात कर रक्खा है। इसी लिये यह आत्मा अपने स्वभावसे च्युत होकर विभावपरिणतिरूप परिणम रहा है और अनेक योनियोंमें परिभ्रमण करता हुआ नाना प्रकारके दुःख और कष्टोंको भोग रहा है। इसका मुख्य और प्रधान उद्देश्य है 'बन्धनसे छुटकर स्वाधीनता प्राप्त करना'।

परन्तु बन्धनसे छुटना आसान काम नहीं है। एक राष्ट्र जब दूसरे राष्ट्रकी परतंत्रतासे अलग होना चाहता है--स्वाधीन बननेकी इच्छा रखता है--तब उसे रातदिन इस विषयमें प्रयत्नशील रहनेकी जरूरत होती है। बड़े २ उपायोंकी योजना करनी पड़ती है। घोर संकट सहन करने होते हैं, बन्धनोंमें पड़ना होता है, हानियां उठानी पड़ती हैं, अपने स्वार्थकी बलि देनी होती है और बहुतसे ऐसे काम भी करने पड़ते हैं जिनका करना उसे इष्ट नहीं होता और न वे उसके उद्देश्य ही होते हैं परन्तु बिना उनके किये उसे अपने उद्देश्योंमें सफलता प्राप्त नहीं हो सकती और इस लिये वह उन्हें लाचारीकी दृष्टिसे करता है। साथ ही वह अपने लक्ष्यसे कभी भ्रष्ट नहीं होता और न दूसरे राष्ट्रकी मोह-माया में फंसता है। तब कहीं वह वर्षोंके बाद परतंत्रताकी बेड़ीसे छूटकर स्वतंत्रता की शीतल छायामें निवास करता है। इसी तरह पर उस आत्माको भी, जो कर्मके बन्धनसे छूटना चाहता है, अपनी उद्देश्य सिद्धिके लिये बड़े बड़े प्रयोग करने होते हैं और नाना प्रकारके कष्ट उठाने पड़ते हैं। उसे बन्ध मुक्त होने के लिए बन्धनमें भी पड़ना होता है, कर्मसे छूटनेके लिए कर्म भी करना पड़ता है, हानिसे बचनेके लिए हानि भी उठानी पड़ती है, पाप से सुरक्षित रहने के लिए पाप भी करना होता है और शत्रुओंसे पिंड छुड़ाने के लिए शत्रुओंका आश्रय भी लेना पड़ता है। परन्तु इन सब अवस्थाओंमें होकर

जाता हुआ मुमुक्षु आत्मा अपने लक्ष्यसे कभी भ्रष्ट नहीं होता—पुद्गलके अथवा प्रकृतिके मोहजालमें कभी नहीं फंसता। वह कभी बन्धको मुक्ति, कर्मको कर्माभाव, हानिको लाभ, पापको धर्म और शत्रुको मित्र स्वीकार नहीं करता। और न कभी इन बन्धादिक अवस्थाओंको इष्ट समझता हुआ उनमें तल्लीन होता है। बल्कि उसका प्रेम इन सब अवस्थाओंसे सिर्फ़ 'कायर्थी' होता है। कायर्थी प्रेम कार्यकी हदतक रहता है। कार्यकी समाप्तिपर उसकी भी समाप्ति हो जाती है इस लिये वह अपने किसी इष्ट प्रयोजनकी साधनाके निमित्त लाचारीसे इन बन्धादिक अवस्थाओंसे क्षणिक प्रेम रखता हुआ भी बराबर निर्बन्ध, निष्कर्म, निर्हानि, निष्पाप और निःशत्रु होनेकी चेष्टा करता रहता है। इस विषय में उसका यह सिद्धान्त होता है:—

उपकाराद्गृहीतेन शत्रुणा शत्रुमुद्धरेत् ।
पादलग्नं करस्थेक कण्टकेनेव कण्टकम् ॥

अर्थात्—हाथमें कांटा लेकर जिस प्रकार पैरका कांटा निकाला जाता है, उसी प्रकार उपकार तथा प्रेमादिकसे एक शत्रुको अपना बनाकर उसके द्वारा दूसरे शत्रुको निर्मूल करना चाहिये। अभिप्राय यहकि, पैरमें लगेहुए कांटेको निकालनेके लिए पैरमें दूसरा कांटा चुभाने की जरूरत होती है और उस दूसरे कांटेको आदरके साथ हाथमें ग्रहण करते हैं। परन्तु वह दूसरा कांटा वास्तवमें इष्ट नहीं होता कालान्तरमें वह भी पैरमें चुभ सकता है और न उसका चुभनाही इष्ट होता है क्योंकि उससे भी तकलीफ़ जरूर होती है फिर भी उस अधिक पीड़ा पहुंचानेवाले पैरके कांटेको निकालनेके लिए यह सब कुछ किया जाना है। और कार्य हो चुकनेपर वह दूसरा कांटा भी हाथसे डाल दिया जाताहै। इसी सिद्धान्त पर मुमुक्षु आत्माको बराबर चलना होता है। उसका जानबूझकर किसी बन्धन में पड़ना, कोई पापका

काम करना और किसी शत्रु की शरणमें जाना दूसरे अधिक कठोर बंधनसे बचने, घोर पापोंसे सुरक्षित रहने और प्रबल शत्रुओंसे पिंड छुड़ानेके अभिप्रायसे ही होता है। यद्यपि उसे सम्पूर्ण कर्मशत्रुओंका विजय करना इष्ट होता है; परन्तु साथ ही वह अपनी शक्तिको भी देखता है और इस बात को समझता है कि यदि समस्त शत्रुओंको एकदम चैलेंज देदिया जाय—सब का एक साथ विरोध करके उन्हें युद्धके लिए ललकारा जाय—तो उसे कदापि सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए वह बराबर अपनी शक्तिको बढ़ानेका उद्योग करता रहता है। जब तक उसका बल नहीं बढ़ता तब तक वह अपनी तरफ़से आक्रमण नहीं करता, केवल शत्रुओंके आक्रमणकी रोक करता है, कभी कभी उसे टेम्पोरेरी ( अल्पकालिक ) संधियां भी करनी पड़ती हैं और जब जिस विषयमें उसका बल बढ़ जाता है तब उसी विषयके शत्रुसे लड़नेके लिए तैयार हो जाता है और उसे नियमसे परास्त कर देता है। इस तरह वह संपूर्ण कर्मोंके बन्धनसे छूटकर मुक्त होजाता है।

गृहस्थाश्रम भी कर्मबन्धनसे छुटनेके प्रयोगोंमेंसे एक प्रयोग है और स्त्री पुरुष दोनों मुमुक्षु हैं—कर्मबन्धनसे छूटनेके इच्छुक हैं—इस लिये उन्हें भी अपने लक्ष्यसे भ्रष्ट होकर गृहस्थाश्रमकी बंधादिक अवस्थाओंको अपना स्वरूप न समझ लेना चाहिए, उन्हें सर्वथा इष्ट मानकर उनमें तल्लीन न हो जाना चाहिए। बंधको मुक्ति, कर्मको कर्माभाव, हानिको लाभ, पापको धर्म और शत्रुको मित्र न मान लेना चाहिये। ऐसा मान लेनेसे फिर कर्मका बंधन न छूट सकेगा। अंतरंग दृष्टिसे उनका भी प्रेम इन सब अवस्थाओं से 'कायार्थी' होना चाहिए और उन्हें बराबर निर्बन्ध, निष्कर्म, निर्हानि निष्कषाय और निःशत्रु होनेकी चेष्टा करते रहना चाहिए। साथही, उनका भी वही "कण्टकोन्मूलन" सिद्धान्त होना चाहिए और

उन्हें बड़ी सावधानीके साथ उसपर चलना चाहिए। उनका जानबूझ कर गृहस्थीके बन्धनोंमें पड़ना, आरंभादिक पापोंमें फँसना और कामादिक शत्रुओंका शरण लेना भी नरक-निगोद-तिर्यंचादिक-के कठोर बंधनोंसे बचने, संकल्प तथा अशुभरागादि-जनित घोर पापोंसे सुरक्षित रहने और अज्ञान-मिथ्यात्वादि प्रबल शत्रुओंसे पिंड छुड़ानेके अभिप्रायसे ही होना चाहिए। उन्हें अपने पूर्ण ब्रह्म-चर्यादि धर्मोंपर लक्ष्य रखते हुए समस्त कर्मशत्रुओंको जीतनेका उद्देश्य रखना चाहिए और उसके लिए बराबर अपना आत्म-बल बढ़ाते रहना चाहिए। आत्माका बल शुभकर्मोंसे बढ़ता है, और अशुभ कर्मोंसे घटता है। इस लिए गृहस्थाश्रम में उन्हें अशुभ कर्मों का त्याग करके बराबर शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करते रहना चाहिए। गृहस्थाश्रममें गृहस्थधर्मद्वारा आत्माका बल बहुत कुछ बढ़ाया जा सकता है। इसी लिये महर्षियोंने इस गृहस्थाश्रमकी सृष्टि की है। शुभ कर्मोंके द्वारा आत्म-बल बढ़जाने पर गृहस्थोंको, प्रेमपूर्वक ग्रहण किये हुए हाथके काँटेके समान गृहस्थाश्रमका भी त्याग कर देना चाहिए और फिर उन्हें 'वानप्रस्थ' या 'सन्यस्त' ( मुनि ) आश्रम धारण करना चाहिए। और इस प्रकार कर्मोंका बल घटाते हुए अंतके आश्रम-द्वारा उन्हें सर्वथा निर्मूल करके बंधनसे छूट जाना चाहिए। यही मुक्तिकी सुसरला युक्ति है। और इसके उपर्युक्त दिग्दर्शनसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि गृहस्थाश्रम अथवा गृहस्थ धर्मका यह प्रणयन कितना अधिक युक्ति और चतुराईको लिए हुए है ❋। और उस पर पूरा पूरा अमल होनेसे मुक्ति कितनी संनिकट हो जाती है।

❋ विवाह-पद्धति मेंभी, भगवान ऋषभदेव का स्तवन करते हुए, यह बतलाया गया है कि उन्होंने युगकी आदिमें कल्याणकारी गृहस्थ-धर्मको प्रवर्तित करके उसके द्वारा युक्तिके साथ निर्वाणमार्गको प्रवर्तित किया था। यथा:—

परन्तु इन समस्त आश्रमोंके धर्मका पूरी तौरसे पालन तब ही हो सकता है जब 'समाजका संगठन अच्छा हो"। बिना समाज संगठनके कोई भी काम यथेष्ट रीतिसे नहीं हो सकता। बाह्य साधन न होनेसे सब विचार हृदयके हृदयमें ही विलीन हो जाते हैं, बंध-मोक्षकी सारी कथनी ग्रन्थोंमें ही रक्खी रह जाती है और अमली सूरत कुछ भी बन नहीं पड़ती। जैनियों का सामाजिक संगठन बिगड़ जानेसे ही अफ़सोस! आज बस्तुतः मुनिधर्म उठ गया!! और इसीसे जैनियोंकी प्रगति रुक गई। मुनियों का धर्म प्रायः गृहस्थोंके आश्रय होता है। इसीलिए 'पद्मनन्दि' आदि आचार्योंने "गृहस्था धर्महेतव:" "श्रावकामूलकारणम्" इत्यादि वाक्यों-द्वारा गृहस्थोंको धर्मकाहेतु' और 'मुनिधर्मका मूल कारण' बतलाया है*।

प्रावर्तयज्जनहितं खलु कर्मभूमौ
षट्कर्मणा गृहिवृषं परिवर्त्य युक्त्या।
निर्वाणमार्गमनवद्यमजः स्वयंभूः
श्रीनाभिसुनुर्जिनपो जयतात्स पूज्यः॥

जो लोग विवाहको सर्वथा संसारका कारण मानकरनिवृत्तिप्रधान धर्मके साथ उसको असम्बद्ध समझते हैं, यह उनकी बड़ी भूल है। उन्होंने विवाहके वास्तविक उद्देश्यको नहीं समझा और न धर्मका रहस्य ही मालूम किया है।

* 'मनु' आदिने भी गृहस्थाश्रमको प्रधानता दी है और लिखा है कि शेष तीनों आश्रमों का उसीके द्वारा भरण-पोषण होता है और वे उसके आश्रित हैं। यथा:—

"सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्बिभर्ति हि॥
"तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम॥

—मनुस्मृतिः।

परन्तु गृहस्थाश्रम व्यवस्था ठीक न होने से--समाज के अव्यवस्थित और निर्बल होने से यह सब कुछ भी नहीं हो सकता। इस लिए अंतरंग और वहिरंग दोनों दृष्टियों से समाज-संगठन की बहुत बड़ी जरूरत है। विवाह भी इसी खास उद्देश्य को लेकर होना चाहिये और उसको पूरा करने के लिए प्रत्येक स्त्री पुरुष को उन दस कर्तव्यों का पूरी तौर से पालन करना चाहिए जो कुटुम्बों को सुव्यवस्थित बनाने के लिये बतलाए गए हैं, और जिन पर समाज का संगठन अवलम्बित है।

## सिद्धि के लिये जरूरत

समाज संगठन को पूरी तौर से सिद्ध करने के लिए और गृहस्थाश्रम का भार समुचित रीति से उठाने के लिए इस बात की वहुत बड़ी जरूरत है कि स्त्री और पुरुष दोनों ही योग्य हों, समर्थ हों, व्युत्पन्न हों, युवावस्था को प्राप्त हों, समाज हित की दृष्टि रखते हों और संगठन की जरूरत को भले प्रकार समझते हों। बाल्यावस्था से ही उनके शरीर का संगठन अच्छी रीति पर हुआ हो, वे खोटे संस्कारों से दूर रक्खे गए हों और उनकी शिक्षा दीक्षा का योग्य प्रबन्ध किया गया हो। साथ ही विवाह-संस्कार होने तक उन्होंने पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया हो और लौकिक तथा पारमार्थिक ग्रन्थों का अध्ययन करके उनमें दक्षता प्राप्त की हो अच्छी लियाकत हासिल की हो। बिना इन सब बातों की पूर्ति हुए समाज का यथेष्ट संगठन पूरे तौर से नहीं बन सकता, न गृहस्थाश्रम का भार समुचित रीति से उठाया जा सकता है और न

बस गृहस्थाश्रम ही सुखाश्रम बन सकता है *। इसीलिए गृहस्थाश्रम से पहिले आचार्यों ने एक दूसरे आश्रम का विधान किया है जिसका नाम है ब्रह्मचर्याश्रम—अर्थात ब्रह्मचारी रहकर विद्याभ्यास करते हुए शारीरिक और मानसिक शक्तियों को केन्द्रित एवं विकसित करना। इस आश्रम का खास उद्देश्य इन्हीं सब बातों की पूर्ति करना है जो विवाह के मुख्य उद्देश्य समाज संगठन की पूर्ति तथा गृहस्थाश्रम के पालन के लिए जरूरी हैं। भगवज्जिनसेनाचार्य ने, आदि पुराण में, इन सब आश्रमों का क्रम इस प्रकार वर्णन किया है:—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथभिक्षुकः।
इत्याश्रमास्तु जैनानामुत्तरोत्तरशुद्धितः ॥३९-१५३॥

* मुनि रत्नचन्द जी ने भी 'कर्तव्य-कौमुदी' में लिखा है—

यावन्नार्जयते धनं सुविपुलं दारादिरक्षाकरं।
यावन्नैव समाप्यते दृढतरा विद्याकला वाश्रिता॥
यावन्नो वपुषो धियश्च रचना प्राप्नोति दार्ढ्यं परं।
तावन्नो सुखदं वदन्ति विबुधा ग्राह्यं गृहस्थाश्रमं॥

अर्थात—जब तक इतना प्रचुर धन पैदा न करलिया जाय अथवा पास न हो जिससे अपनी तथा स्त्री-पुत्रादि की यथेष्ट रक्षा होसके घर का खर्च चल सके, जब तक विद्या और कला का अभ्यास अच्छी तरह से पूरा न हो जाय और शरीर के अंगों की रचना तथा बुद्धि का विकास अच्छी तरह से होकर उनमें पूर्ण दृढ़ता न आ जाय तब तक गृहस्थाश्रम का ग्रहण करना सुखदायी नहीं हो सकता। ऐसा बुद्धिमानों का मत है।

अर्थात्–ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक ये जैनियों* के चार आश्रम उत्तरोत्तर शुद्धि को लिए हुए हैं।

इससे प्रगट होता है कि सब आश्रमों से पहला आश्रम ब्रह्मचारी आश्रम रक्खा गया है। यह आश्रम, वास्तवमें, सब आश्रमों की नींव जमाने वाला है। जब तक इस आश्रम के द्वारा एक खास अवस्था तक पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए किसी योग्य गुरु के पास विद्याभ्यास नहीं किया जाता है, तब तक किसी भी आश्रम का ठीक तौर से पालन नहीं हो सकता। इसके बिना वे सब आश्रम बिना नींव के मकान के समान अस्थिर और हानि पहुंचाने वाले होते हैं। इसलिए सब से पहले बालक बालिकाओं को एक योग्य अवस्था तक पूर्ण ब्रह्मचर्य के साथ रखकर उनकी शिक्षा और शरीर-संगठन का पूरा प्रबन्ध करना चाहिए और इसके बाद कहीं उनके विवाह का नाम लिया जाना चाहिये। यही माता पिता का मुख्य कर्तव्य है।

यह 'योग्य अवस्था' बालकोंके लिये २० वर्ष तक और बालिकाओं के लिये १६ वर्ष से कम न होनी चाहिये। इससे पहिले न वीर्य ही परिपक्व होता है और न विद्याभ्यास ही यथेष्ट बनता है। सारा ढांचा कच्चा ही रह जाता है, जिससे आगे गृहस्थाश्रम धर्म और समाज-संगठन को बहुत बड़ी हानि पहुंचती है और स्त्री पुरुषों का जीवन भी नीरस तथा दुखमय बन जाता है। शरीर शास्त्र के वेत्ता आचार्य 'वाग्भट' लिखते हैं कि, 'पुरुष की अवस्था पूरे २० वर्ष की और स्त्री की अवस्था पूरे १६ वर्ष की होजाने पर गर्भाशय, मार्ग, रक्त, शुक्र (वीर्य), शरीरस्थ वायु और हृदय शुद्ध होजाते हैं—अपना

*हिन्दुओं के यहां भी ये ही चार आश्रम इसी क्रम से माने गए हैं। यथा: ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा। एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वार: पृथगाश्रमा: ॥ —मनुस्मृति:।

कार्य यथेष्ट रीति से करने लगते हैं—उस समय परस्पर जो मैथुन किया जाता है उससे बलवान् सन्तान उत्पन्न होती है ; और इससे कम अवस्था में जो मैथुन किया जाता है उससे रोगी, अल्पायु (शीघ्र मर जाने वाली) या दीन दुःखित और भाग्यहीन सन्तान पैदा होती है अथवा गर्भ ही नहीं रहता। वाग्भट के वे वचन इस प्रकार हैं:-

पूर्णषोडशवर्षा स्त्री पूर्णविंशनसंगता।
शुद्धे गर्भाशये मार्गे रक्ते शुक्रेऽनिले हृदि॥
वीर्यवंतं सुतं सूते ततो न्यूनाब्दयोः पुनः।
रोग्यल्पायुरधन्यो वा गर्भो भवति नैव वा॥

इनसे साफ़ ज़ाहिर है कि पुरुष का २० वर्ष से और स्त्री का १६ वर्ष से कम उम्र में विवाह न होना चाहिए। ऐसा कम उम्र का विवाह बहुत ही हानिकारक होता है और समाज के संगठन को बिगाड़ता है। छोटी उम्र में विवाह करके बाद को जो 'गौना' या 'द्विरागमन' की प्रथा है वह बिलकुल विवाह के उद्देश्य एवं समाज-संगठनका घात करने वाली पृथा है—सोते हुए सिंहको जगाकर उसे थपकी देने के समान है। किसी भी माननीय प्राचीन जैनशास्त्र में उसका उल्लेख या विधान नहीं है और उसके द्वारा व्यर्थ ही दो व्यक्तियोंका जीवन खतरे में (जोखम) में डाला जाता है। इसलिए समाज-संगठनके इच्छुक बुद्धिमानों द्वारा वह प्रथा कदापि आदरणीय नहीं हो सकती।

## उपसंहार

यही सब सूत्र रूप से समाज संगठन और उसकी सिद्धि का रहस्य है। आशा है सहृदय पाठक एवम उत्साही नवयुवक इसका ठीक तौरसे अनुभव करते हुए समाजसंगठनके कार्यमें अग्रसर होंगे अपने अपने कर्तव्यों का दृढ़ता के साथ पालन करेंगे। और उसके द्वारा समाज में सुख शांति का वातावरण प्रस्तुत करके अपने तथा दूसरों के उत्थान और विकास का मार्ग प्रशस्त बनाएंगे। इत्यलम्।

जुगलकिशोर मुख्तार ( सरसावा ) जिला सहारनपुर

# धन्यवाद

इस ट्रैक्ट के प्रकाशन में ग्यारह रुपये की सहायता ला० दीवानचन्द जी जैन ने ( धर्मपुरा सतघरा देहली ) अपनी बहिन स्वर्गीय श्रीमती कस्तूरी देवी के स्मरणार्थ तथा ग्यारह रुपये ला० तनसुखराय जी जैन मैनेजिंग डायरेक्टर तिलक बीमा कम्पनी देहली ने प्रदान किए हैं अतएव आप धन्यवाद के पात्र हैं आपकी सहायता से यह ट्रैक्ट प्रकाशन में आगया आशा है समाज आपका अनुकरण करेगी।

निवेदक—
मंत्री
जैनमित्र मंडल देहली।

गंगेश्वरी प्रिन्टिङ्ग वर्क्स, गली मुर्गान, चावड़ी बाजार दिल्ली।

# अंधों के हाथ में दर्पण

लेखक -

लोकमणि जैन गोटेगाव

प्रकाशक -

स० तारण-तरण समाज गंज बासौदा

पं० सुन्दरलाल गंगेले द्वारा सुन्दर प्रिन्टिंग प्रेस
सागर में मुद्रित ।

# वीर सेवा मन्दिर
## दिल्ली



क्रम संख्या ____________

काल नं० ____________

खण्ड ____________

# ' अंधों के हाथ में दर्पण '

[ ले० लोकमणि जैन, गोटेगाँव ]



जिस जैन धर्म ने क्षत्रियों के हृदयों में बास कर संसार को अहिंसा का स्वरूप बतला दिया था, बड़े शूरवीर होकर भी क्षत्री आश्रितों की रक्षा करते थे, जैनियों के परमात्मा क्षत्रिय वंश ही में जन्म लेकर जैन धर्म का प्रचार करते रहे हैं। क्षत्रियों ने जैन धर्म को सार्व धर्म बना दिया था। प्रत्येक जाति को जैनी बनाकर उसके साथ हर तरह का संबंध कर लेना वे अपना कर्तव्य समझते थे। जैनियों के महा पुरुष चक्रवर्ती तो इतने उदार और जैन धर्म की लगन रखनेवाले थे कि जिनको आज हम छू भी नहीं सकते। उन मलेच्छों से रोटी बेटी का संबंध करते थे। मलेच्छों की हजारों कन्याओं के साथ शादी करके उन्हें जैनी बनाते थे, उन मलेच्छ कन्याओं के उदर से उत्पन्न हुए बालक क्षत्री कहलाकर जैन धर्म की दीक्षा से आत्मा की शुद्धि कर मोक्ष के पात्र बनते थे, वे मोक्ष गामी होते थे। वे परमात्मा का पद प्राप्त करते थे, जैनियों की संख्या क्षत्रियों के जैनत्व-काल में कई करोड़ थी; सारा संसार एक तरह से जैनी था।

क्षत्रियों ने सब वर्णों के साथ विवाह संबंध कर जैन-धर्म को सर्वव्यापी बना रखा था। क्षत्रिय जाति के मुनि तीनों वर्णों में शास्त्रोक्त पवित्र भोजन करते थे, वे संकुचित विचार वाले न थे। महा तपस्वी राज-पाट को तृणवत् त्याग कर जँगलों में तपस्या करते थे। वे सदा कष्टों को सहने के लिये सीना अड़ाये रहते थे। शरीर टिका रहने के लिये अल्प नीरस भोजन गृहण करते और आत्म ध्यान में मस्त रहकर आत्म-शुद्धि करते थे, उनकी कठिन तपस्या देख जंगली जानवर भी विनय-शील होकर उनके पास आते थे। क्षत्रियों के हाथ में रहकर जैन धर्म ने अनंत प्राणियों को मोक्ष में पहुँचा दिया और अनेक दीनों की रक्षा की। अनंत प्राणियों को दुर्गति से निकालकर सद्गति प्राप्त करा दी।

क्षत्रियों के हाथ में जैन धर्म अपने समस्त अंगों का प्रसार कर सका था। चारों ओर अपने हाथ पाँव फैलाकर विश्व धर्म होकर जगत्-बन्धु कहलाता था उस समय जैन धर्म मनुष्य, पशु पक्षी, सबका प्यारा था, सबके पास जाकर सत्य के मार्ग पर लगाये रहता था, चोर, चाण्डाल, भील भी जैनी बनकर आत्म-ज्ञानी कहलाने का सौभाग्य प्राप्त करते थे।

मतलब यह कि जैन धर्म उस समय नेत्र वालों के हाथ में था। समय ने चक्कर खाया क्षत्रियों की जाति कायर हो चली, जैन-धर्म रूपी सूर्य का प्रकाश उसे न भाया। अमूल्य रत्न को (आत्मदर्शी-दर्पण को) क्षत्रिय जाति ने खो दिया।

रास्ते में पड़ी बिना खोज किये वैश्य जाति को यह जैन धर्म रूपी आत्मदर्शी-दर्पण मिल गया, वैश्य जाति ने प्रथम इसकी तह में बैठकर अगणित रत्नों का उसे खजाना समझा। बस उसने जैन धर्म के रत्नों को अपने पापी हृदयों में बन्द करके रक्खा, उसका बाहर आना जाना बन्द कर दिया, समस्त जातियों से संबंध तुड़वा दिया, कोई भी प्राणी इतर जाति का जैन धर्म से मिलने जुड़ने न पावे। उसकी बातें सुनने न पावे। इस वैश्य जाति ने खूब प्रबन्ध कर दिया।

जैन धर्म इनकी बपौती सम्पत्ति हो गई। वैश्य जाति ने अरहंतों को, सिद्धों को पत्थरों में, पीतल में, सोने चाँदी में जबरदस्ती ठूस ठूस कर कारीगरों से प्रवेश करवा दिया फिर प्रतिष्ठाचार्यों से कीलित कराकर मंदिरों में कैद कर दिया। तकलीफ भी कैदियों जैसी दी जाने लगी। खाने को टूटे-फूटे, सड़े-घुने चाँवल, खराब सुपारी और सवा रत्ती नारियल की गिरी दी जाने लगी, इतने पर भी वे न खावें तो मालियों को हुक्म दिया गया कि ये न खावें तो इन्हें भूखा रहने दो, तुम छीनकर इनका कौर ले जाया करो और ताला बन्द रखो जिससे ये बाहर न निकलने पावें।

इन मंदिर-रूपी जैलों में वैश्य जाति ने अगणित अरहंतों और सिद्धों को आजन्म कालेपानी की सजा देकर कैद कर दिये।

हजारों भगवानों के लिये चुल्लू भर पानी और छटाक

भर चाँवलों में निर्वाह करना पड़ता है, पर पूजा-रूपी रिपोर्ट लोगों में ऐसी प्रकाशित कर रक्खी। जिसमें लिखा रहता है कि उनको सदूघेवर, बावर, लाडू सोने के पात्रों में रखकर भोजन को दिये जाते हैं। क्षीर समुद्र का स्वादिष्ट पानी पीने को दिया जाता है। उससे ही स्नान कराया जाता है उनसे कुछ काम नहीं लिया जाता है। और उनकी खूब सेवा सुश्रुषा की जाती है, उनका हम बहुत अदब करते हैं, उनके साम्हने हम कोई खराब काम नहीं करते हैं पर यह रिपोर्ट झूठी बनवाई गई है और कहीं की प्राप्त कर अपनी सील लगाकर प्रकाशित की गई है। वहाँ न उनको मिठाई मिलती है, न लाडू और बावर ही क्या मिलता है, सो तो मैं बतला चुका।

पात्र सोने के नहीं किन्तु जर्मन सिल्वर या ऐल्युमीनियम के छोटे छोटे मिलते हैं, हाँ भादों में पर्व के दिनों में अनन्त चतुर्दशी को अवश्य कुछ पकवान सामने रख दिया जाता है और उन्हें दिखाकर मालियों को दे दिया जाता है।

पानी भी जो पास में हो ऐसे गंदे कुओं का पीने को और स्नानों को दिया जाता है। एक जरासा कपड़ा भिगोकर हजारों कैदियों को स्नान करा दिया जाता है उनके परिचारक भी बड़े निर्दयी रक्खे जाते हैं वे कोई को स्नान कराते हैं कोई को नहीं। किसी को क्रम क्रम से जल चंदन और अक्षत आदि परोसते हैं और किसी किसी को सबकी खिचड़ी बनाकर ही देते हैं। जिसे अर्घ महार्घ कहा करते हैं, खिचड़ी का रिवाज भादों मास में

जादा पड़ा है, जबरदस्ती अर्घ और महार्घ रूपी खिचड़ी पद पद पर दी जाती है इसीसे उनके स्वस्थ्य तक बिगड़ जाने का भय रहता है, उनसे कुछ काम नहीं लिया जाता यह बात भी झूठ है। उनसे बड़ा सख्त काम लिया जाता है।

उनसे कहा जाता है बड़ी सख्ती के साथ कि हम एक चम्मच पानी जब देंगे जब तुम जन्म जरा और हमारी मौत बचाने का काम करोगे तो और—

सुगंध मिला पानी तो जब देंगे जब कि तुम भव समुद्र से पीठ पर चढ़ाकर उसे पार कर दो।

खाने के लिये कच्चे चाँवल मुट्ठी भर तब देंगे जब अक्षय पद प्राप्त करा दो और फूल सूंघने को जब दिया जायगा जब तुम हमारी विषय लोलुपता शांत कर दो, हमें काम घायल न करने पावे और तुम इन्तजाम कर दो। और—

पक्का अनाज पकवान खाने की इच्छा हो तो हमारा पेट ऐसा भर दो कि हमें कभी भूख ही न लगे। यदि मंदिर रूपी जेल में दिया का उजेला चाहते हो, अंध कोठरी में चैन न पड़ती हो, तो मोहान्धकार से छुटकारा करा दो और—

सुगंधवाला धुवां सूंघना हो तो हमारे आठों कर्मों को ध्वंस कर दो और—

फल सुपारी वगैरहः तो हम इसीलिये देते हैं कि हमें मोक्ष पहुंचा दो (और तुम यहाँ भुगतो) और खिचड़ी

(अर्घ) तो हम इसीलिये देते हैं कि बड़ा कीमती पद हमें दे दो।

अब देख लीजिये कितना सख्त काम और कितने सस्ते में उनसे कराया जाता है। दिन को भी और रात को भी, आठें को भी और चतुर्दशी को भी; एक पल भर भी बिना काम के बैठ नहीं सकते।

इतना सख्त काम दुनियाँ में कोई भी कैदी नहीं कर सकते, जितना वैश्य जाति के फेर में पड़कर अरहन्तों और विचारे सिद्धों को करना पड़ता है। इतने पर भी कैदियों की संख्या दिन पर दिन बढ़ती चली जाती है, हजारों लाखों कैदी हर साल तैयार होते जाते हैं और सबको सजा आजन्म काले पानी की देकर उनकी खूब सेवा की जाती है, यह भी गलत है—पहले कोई सच्चा सेवक तो हो फिर सेवा करे।

वैश्य जाति में इस समय जो सेवक हैं वे पूरे दुर्गुणों से भरे स्वार्थी मंदिरों तक में महा पाप करने वाले झूठे दगाबाज पाये जाते हैं खूब गला फाड़-फाड़ कर गाली गलाज बक कर खाने-पीने को देते हैं। संस्कृत में अर्थ नहीं समझते और गालियाँ बकते हैं, उन्हें वे मंत्र कहते हैं ऐसे सेवक सेवा करने के लिये रखे जाते हैं, सेवा का आनन्द भगवान् ही जानते होंगे। वैश्य जाति ने भगवत् भक्ति का कोरा ढोंग मचा रखा है, उसकी भक्ति पैसे पर है, पैसे की प्राप्तिपर तन-मन सब न्योंछावर है। व्रत विधान पूजादि सब पुत्र प्राप्ति और धन प्राप्ति और भगतजी कहलाने के लिये करते हैं।

वैश्य जाति ने दश लक्षण पर्व की भी बड़ी मरम्मत की है, साल में तीन बार दश लक्षण पर्व मनाना चाहिये पर वैश्य जाति का फुरसत वर्षा ऋतु में ही मिलती है, इसीलिये भादों के दश लक्षण पर्व को ही यह मानती है, यह भादों के आखिरी दश दिनों में उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, सौच, संजम तप, त्याग, आकिंचन्य ब्रह्मचर्य, धर्मों की मानता करती है इन गुणों की प्राप्ति के लिये पूजा-रचा और व्रत उपवास करती हैं। क्या-क्या उन दिनों करती है थोड़ा सा लिखकर लेख समाप्त करता हूँ।

उत्तम क्षमा का श्री गणेश अपनी कुटेवों से शुरू होता है, कुटेवों से चाहे सारा शरीर नाश हो जावे कोई भी दुर्गुण शरीर के भीतर तथा अन्तःपुर में प्रवेश कर जावे, सब पर क्षमा, लुच्चे-बदमाश चार लातें दिन दहाड़े मार जावें उन पर क्षमा, घर की बीबियाँ पाखंडी साधुओं से लुक छिपकर गंडा ताजीब बंधवा कर शील बिगाड़ती फिरें और कहें कि साधु की भभूत से बच्चा हुआ है उनके कृत्यों पर क्षमा, पर जाति का भाई जरा जुहार न करे तो उत्तम क्रोधाग्नि भभक उठे।

उत्तम मार्दव-विनय में गुण की प्रधानता है, जब घर में जेवर की मांग होती है अथवा खरा तकादा होता है उस समय पैसे का प्रबंध न होने से उनके साम्हने विनय गुण प्रगट होता है, हाथ जोड़कर आरजू मिन्नत करते हैं, वे पलंग पर तो अपने राम जमीन पर ही घुटने टेककर बैठ जाते हैं, कहीं दूसरी-तीसरी शादी की पत्नी जी हुई तो आठों अंग नवाकर विनय गुण दिखाया जाता है, शक्ति हीन होने से अत्यंत विनय

आजाती है फिर तो सारा काम विनय से ही होता है, खाना-पीना, उठना बैठना और शय्या पर सोना पर बाहर जाति भाइयों ने जरा खड़े होकर जुहार न की तो मान भंग हो गया, सारा मार्दव गुण हवा में उड़ गया। मंदिरों मेंभी मान, आसन और जाति सभा में भी मान का ठिकाना नहीं। आगे तोंद और पीछे तकिया लगा ही रहता है।

आर्जव धर्म—छल कपट का त्याग करता है, मायाचारी से रोकता है, वैश्य जाति मायाचारी से अपना पेट भरने का सर्व प्रधान जरिया माने हुए है, पद-पद पर छल प्रपंच करने में चूकती नहीं।

उत्तम शौच--लोभ का त्याग बतलाया जाता है, लोभ वैश्य जाति का अमोघ अस्त्र है, पैसा मिलने पर दुकान का सौदा तो बेचता ही है पर स्त्री, पुत्र और लड़कियाँ भी बेचने में कमी नहीं करते हैं। उत्तम शौच धर्म उपासक वैश्य जाति बुढ्ढों को लड़कियाँ बेचती है, समस्त बड़े से बड़े पाप करती है।

उत्तम सत्य की उपासना तो इसने जन्म जन्मान्तर में भी न की होगी, सारा समय असत्य भाषण में व्यतीत करती, झूठी गवाहियाँ दे दे कर पैसा कमाती है वैश्य जाति के हृदय झूठ के समुद्र हैं।

उत्तम संयम--धर्म षट काय के जीवों की रक्षा, पंचेन्द्रिय का दमन करना चाहिये पर सब ही काम के जीवों की हिन्सा तथा मिठाई पकवान का भोजन, इतर फुलेल का मर्दन, फोनोग्राफ, हार्मोनियम का श्रवण, परदारा का निरीक्षण आदि समस्त कार्य अविकल रीति से किये जाते हैं।

जैन धर्म एक दर्पणवत् धर्म है, वह अंधी जा हाथ में पड़कर अपने दिन पूरे कर रहा है।

परिवार बंधु से उद्धृत

( भादों सं० १९८६ वीर सं० २४५५ वर्ष ७ अंक ६ )

अतएव हे मूर्तिपूजक दिगम्बर जैन बन्धुओ-

आज आप लोग हम तारण समाजी भाइयों की यथार्थ बातों पर तो इतने बिगड़ रहे हो कि यह हमारी पूजा को अनावश्यक क्यों कहते हैं परन्तु उपरोक्त इस लेख में पाठक महाशय समझ लेंगे कि यह दिगम्बर जैन मूर्ति पूजा कितनी अनावश्यक और सिद्धान्त विरुद्ध है जिसे कि मूर्तिपूजक समाज में जन्म लेनेवाले श्रीमान् पं० लोकमणिजी गोटेगाँव ने प्रकाशित कराया था।

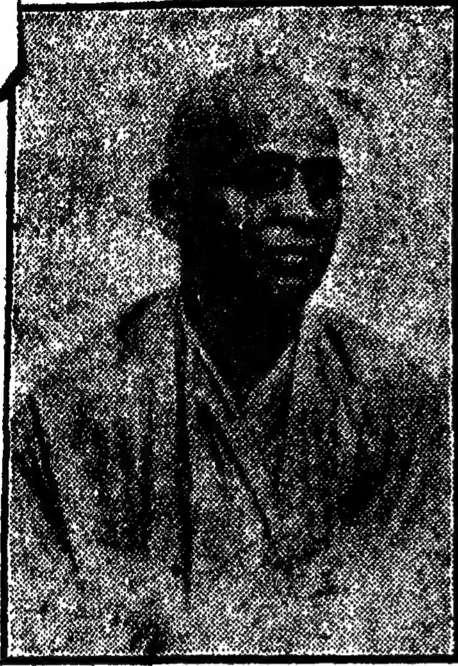
जिसे आज १० साल हो गये हैं आपने क्या विचार किया और क्या क्या उत्तर दिया था सूचित करें।

तात्पर्य यह है कि दिगम्बर जैन मूर्ति पूजा अनावश्यक है यह बात हम ही नहीं कहते, आपकी समाज के भी अनेक बड़े बड़े विद्वान् कहते आ रहे हैं। आपने देखा होगा कि भोले मानव भले ही अपना दो घंटे का समय व्यर्थ के आडंबर कार्य में नष्ट कर देते हैं परन्तु कोई भी अच्छे अच्छे विद्वान् इस उपरोक्त कार्य में अपना समय नष्ट नहीं करते। प्रत्युत इस उतने समय का सदुपयोग शास्त्र स्वाध्याय में लगाकर करते हैं।

—: जैसा कि करना चाहिये. :—

विनीत—हजारीलाल जैन

रचयिता—



ब्र० नन्दलाल

ॐ

अष्टम-पुष्प—

ब्रह्मचारी नन्दलाल
दिगम्बर जैन ग्रन्थ-माला



भगवन्-

# श्री कुन्दकुन्द-वचनामृत

प्रकाशक—

ब्रह्मचारी नन्दलाल महाराज
भिण्ड—ग्वालियर।

—*—


प्रथमावृत्ति } वीर सम्वत् २४७१ { अमूल्य
४००० प्रति } ई० सन् १९४५ अप्रेल।